प्रकाशकः—
जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः,
चौखम्बा-संस्कृत-सीरिज आफिस,
पो० बाक्स नं० ८, बनारस

अस्य पुनर्मुद्रणादिकाः सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकाधीनाः।

The Chowkhamba Sanskrit Series Office,
P. O. Box 8, Banaras.
1954

मुद्रकः—
विद्याविलास प्रेस,
बनारस-१

अनुवादक के दो शब्द

अब हमारा देश स्वतन्त्र है। हिन्दी राष्ट्रभाषा घोषित हो गयी है। राष्ट्र-भाषा के ज्ञान के लिए केवल हिन्दी पढ़ने से पूरा ज्ञान नहीं हो सकता। अन्य भाषाओं के समान हिन्दी की भी जननी संस्कृत है। अतः हिन्दी के पूरे परिचय के लिए उसकी माँ संस्कृत भाषा का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

संस्कृत भाषा बहुत कठिन समझी जाती है। यदि इसे सरलता से पढ़ना हो तो प्रथमतः काव्यों का पढ़ना आवश्यक है। यदि काव्य पढ़कर व्याकरण आदि विषय पढ़े जायँ तो जल्दी समझ में आने लगते हैं। काव्यों में भी सब से पहले सरल काव्य पढ़े जाने चाहिए। सरलता की दृष्टि से चन्द्रप्रभ का पहला नम्बर है। महाकवि अश्वघोष और महाकवि कालिदास की रचना से चन्द्रप्रभ की रचना बहुत सरल है। इस महाकाव्य में सर्वत्र प्रसाद और माधुर्य गुण को स्थान दिया गया है। इसी दृष्टि से यह काव्य गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज की पूर्व मध्यमा परीक्षा में निर्धारित हुआ है। गत वर्ष तक इसके तीन सर्ग कोर्स में थे किन्तु इस वर्ष केवल तृतीय ही रह गया। इसीलिए केवल तृतीय सर्ग का हिन्दी भावानुवाद किया गया है। अनुवाद लिखने के पहले पुरानी प्रति के आधार से मूल का संशोधन किया बाद में अनुवाद किया गया है। मुझे विश्वास है कि पूर्व मध्यमा के छात्र इस अनुवाद की सहायता से अपने आप मूल को समझ लेंगे। छात्रों की सुविधा के लिए पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट भी जोड़ दिया है। परिशिष्ट में पारिभाषिक शब्दों के अर्थ, कोष, अलङ्कार और सूक्तियाँ आदि लिख दिये गये हैं और प्रारम्भ में सर्ग का सारांश, ग्रन्थ और ग्रन्थकार का परिचय दे दिया गया है। यदि इससे छात्रों को लाभ हुआ तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूंगा।

स्याद्वाद महाविद्यालय के वर्तमान प्रधानाध्यापक पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, भूतपूर्व प्रधानाध्यापक पं० फूलचन्द्र जी शास्त्री, अधिष्ठाता श्रीहर्षचन्द्र जी वकील और मन्त्री बाबू सुमतिलाल जी का मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन की कृपा से मुझे स्याद्वादमहाविद्यालय में अध्ययन और अध्यापन का अवसर प्राप्त हुआ।

श्रद्धेय गुरुदेव मुकुन्द जी शास्त्री खिस्ते साहित्याचार्य प्रोफेसर गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज काशी और कवितार्किक चक्रवर्ती श्रद्धेय गुरुदेव महादेव जी शास्त्री, प्रिंसिपल संस्कृत कॉलेज हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस का मैं अत्यन्त आभारी हूं जिनकी कृपा से मुझे साहित्य का ज्ञान हुआ।

अन्त में अध्यक्ष चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय बनारस का भी अत्यन्त आभारी हूं जिन्होंने इसे प्रकाशित कर अपनी उदारता का परिचय दिया।



महाकवि वीरनन्दी और उनका चन्द्रप्रभचरित

प्रस्तुत वीरनन्दी ने विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इस भारत-भूमि को पवित्र किया था। इनका बनाया हुआ केवल चन्द्रप्रभ ही अभी तक उपलब्ध हुआ है। यद्यपि 'आचारसार' के रचयिता भी वीरनन्दी हैं, किन्तु वे इनसे भिन्न हैं; क्यों कि उनका स्वर्गवास विक्रम सम्वत् ११७२ में हुआ था। इनके अतिरिक्त एक वीरनन्दी और हुए हैं जो महेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे।

वीरनन्दी का प्रभाव

वीरनन्दी अपने समय के चोटी के विद्वानों में से थे। अनेक जैन आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में गौरवपूर्वक इनके नाम का उल्लेख किया है—

शक सं० ९४७ में पार्श्वनाथचरित महाकाव्य के पहले सर्ग में श्रीवादिराज सूरि ने लिखा है—

चन्द्रप्रभाभिसम्बन्धाद्, रसपुष्टा मनः प्रियम्।
कुमुद्वतीव नो धत्ते, भारती वीरनन्दिनः॥ ३०॥

विक्रम सं० ११३५ के लगभग आचार्य नेमिचन्द्र ने अपने कर्मकाण्ड में लिखा है—

णमह गुणरयणभूषण सिद्धंतामियमहब्धिभवभावं।
वरवीरणंदिचंदं णिम्मलगुणमिंदणंदिगुरुं॥ ८९६॥

विक्रम की बारहवीं शताब्दी में हुए महाकविहरिचन्द्र ने वीरनन्दि के चन्द्र-प्रभ का अनुसरण कर धर्मशर्माभ्युदय महाकाव्य लिखा। यद्यपि हरिचन्द्र ने अपने काव्य में इनका नामोल्लेख नहीं किया किन्तु सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि उनके सामने चन्द्रप्रभ अवश्य था। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में आशाधर ने अपने सागारधर्मामृत में चन्द्रप्रभ के अनेक पद्य उद्धृत किये हैं।

ऊपर के उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वीरनन्दी का जैनाचार्यों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा था।

वीरनन्दी के गुरु का नाम

वीरनन्दी के गुरु का नाम अभयनन्दी था। इसका स्पष्ट उल्लेख चन्द्रप्रभ के अन्त में दी गयी प्रशस्ति में किया गया है।

विशेष जानकारी के लिए नाथूराम जी प्रेमी का लिखा—'जैन साहित्य और इतिहास' पढ़िये।

चन्द्रप्रभचरित

चन्द्रप्रभचरित महाकाव्य है। इसमें १८ सर्गों में अष्टम तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ का जीवन चरित लिखा गया है। प्रशस्ति के ६ श्लोकों समेत इस महाकाव्य में सब कुल १६९७ श्लोक हैं। इसमें प्रसिद्ध-प्रसिद्ध प्रायः सभी छन्दों का यथास्थान प्रयोग किया गया है।

चन्द्रप्रभ

चन्द्रप्रभ आठवें तीर्थङ्कर थे। इनका जन्म इसी काशी में चन्द्रपुरीमें हुआ था जिसका नाम आज चन्द्रौटी हो गया है।

प्रस्तुत महाकाव्य में चन्द्रप्रभ के ७ भवों का वर्णन किया गया है। प्रशस्ति के अन्तिम श्लोक में कवि ने उन सात भवों का नामोल्लेख बड़ी कुशलता से किया है—

> यः श्रीवर्म[1]नृपो बभूव विबुधः सौधर्म[2]कल्पे तत-
> स्तस्माच्चाजित[3]सेनचक्रभृद्‌भूद्यश्चाच्युतेन्द्र[4]स्ततः।
> यश्चाजायत पद्म[5]नामनृपतिर्यो वैजयन्ते[6]श्वरो
> यः स्यात्तीर्थकरः स सप्तमभवे चन्द्र[7]प्रभः पातु नः॥



तृतीय सर्ग का कथासार

'श्रीपुर' में श्रीषेण राजा राज्य करता था। वह बड़ा न्यायी, प्रतापी, यशस्वी पराक्रमी, वाग्मी, गुणी और विद्यानुरागी था। उसका शरीर बहुत हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर था। उसकी बुद्धि बृहस्पति के समान थी। उसका पराक्रम सिंह के समान था। यद्यपि उसके पास चतुरङ्गिणी सेना थी किन्तु वह अपने तेजोबल से ही समस्त भूमण्डल का परिपालन करता था, सेना तो केवल शोभा के लिए थी। सभी तरह से सम्पन्न होने पर उसे अहङ्कार नहीं था।

उसकी रानी का नाम श्रीकान्ता था। वह लक्ष्मी के समान सुन्दर थी। उस में शील, क्षमा और विनय आदि गुण कूट-कूट कर भरे हुए थे। उसकी सुन्दरता और शील आदि की चर्चा स्वर्ग में भी होने लगी। फलतः देवाङ्गनाएं भी यह चाहने लगीं कि वे भी स्वर्ग से यहाँ आकर तपोबल से उसका रूप प्राप्त करें।

उन दोनों का आपस में बहुत ही अच्छा सम्बन्ध था। राजा उस से बहुत स्नेह करता था तो भी वह धर्म और अर्थ सम्बन्धी व्यवस्था में कभी किसी प्रकार की बाधा नहीं होने देता था—धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों का पालन योग्य रीति से करता था। उसके दिन सुख से बीतते थे।

एक दिन वह राजा आम सभा का कार्य समाप्त कर ज्यों ही अन्तःपुर में प्रवेश करता है त्यों ही उसकी दृष्टि रोती हुई रानी पर पड़ी। राजा ने तुरन्त ही रोने का कारण पूछा—मेरे जीते जी घर का या बाहर का कोई व्यक्ति तुम्हारी आज्ञा का भङ्ग अथवा अपमान नहीं कर सकता है फिर ऐसा कौन सा कारण है जिससे तुम इतनी दुःखी हो रही हो?

रानी ने लज्जावश कोई उत्तर नहीं दिया, किन्तु उसने अपनी सहेली को आँख का इशारा किया। इशारा पाते ही उसने राजा को शोक का कारण सुनाया—राजन्! आज आप की रानी ने छत के ऊपर से छोटे-छोटे सुन्दर बच्चों को गेंद खेलते देखा। उनका देखना ही इसके शोक का कारण है। रानी के मन में यह भाव उत्पन्न हुआ कि जिन स्त्रियों के बच्चा उत्पन्न नहीं होता, उनका जन्म निरर्थक है। मैं तुरन्त ही रानी का भाव भाँप गयी। मैंने इन्हें खूब समझाया भी किन्तु इनका शोक कम नहीं हुआ।

सखी से शोक का कारण सुन कर राजा ने रानी को समझाया कि

पूर्वोपार्जित कर्म के उदय से ही मनुष्य को सुख-दुःख होता है। इसलिए शोक न करो। तुम्हारे शोक से मुझे बहुत शोक हो रहा है और मेरे शोक से और लोगों को भी शोक होगा। सन्तान होना कठिन नहीं है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि सन्तान अवश्य होगी। इस समय बड़े-बड़े ज्ञानी मुनि विद्यमान हैं। वे संसार भर का भूत और भविष्य जानते हैं। उनके पास चल कर संतान न होने का कारण पूछा जायगा। चिन्ता न करो।

वसन्त ऋतु का सुन्दर समय आया। सभी लोग बाग-बगीचों की ओर जाने लगे। राजा भी अपने उद्यान में गया। वह उद्यान बहुत ही सुन्दर था। उसमें सभी लोग जा सकते थे-किसी को रुकावट नहीं थी। वसन्त के कारण उस उद्यान की निराली छवि हो गयी थी। कहीं मयूर नाच रहे थे, कहीं कोयल बोल रही थी, कहीं फूलों की महक आ रही थी और कहीं सुन्दर मधुर फल लटक रहे थे। दक्षिण की हवा बह रही थी इससे उस की छवि और भी बढ़ गयी थी। राजा आनन्द से वहाँ घूमने लगा।

कुछ देर बाद वहाँ आकाश से एक मुनि उतरे और उतरते ही वे एक वृक्ष के नीचे चले गये। उनके देखते ही राजा के शरीर में रोमाञ्च उत्पन्न हो गये। वह तुरन्त ही उनके पास गया। मस्तक झुका कर भक्तिपूर्वक नमस्कार किया और स्तुति भी की।

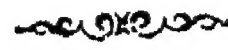
स्तुति के बाद राजा ने मुनिराज से सन्तान न होने का हेतु पूछा। मुनिराजने कहा-तुम्हारी पत्नी ने पूर्व जन्म में एक युवती को गर्भवती देख कर यह इच्छा की थी कि मैं जन्मान्तर में भी युवावस्था के आरम्भ में इसके समान गर्भवती न होऊँ। इसी निदान के कारण अभी तक सन्तान नहीं हुई। किन्तु कुछ दिन बाद सन्तान निश्चित होगी-पुत्र होगा। उसके ऊपर राज्य-भार छोड़ कर तुम मुक्ति प्राप्त करोगे। बात-चीत हो जाने के बाद मुनिराज और राजा अपने-अपने स्थान में चले गये।

कुछ समय बाद अष्टाह्निका पर्व आया। इस पर्व में राजा और रानी ने व्रत-उपवास किये और जिनेन्द्र देव की पूजा की। पर्व समाप्ति के बाद रानी ने गर्भ धारण किया। समय आने पर पुत्र उत्पन्न हुआ। नाम श्रीवर्मा रखा गया। पुत्रोत्पत्ति के कारण चारों ओर हर्ष के चिह्न दिखाई देने लगे। दिन प्रति-दिन राजा की उन्नति होने लगी।

महाकवि श्रीवीरनन्दिप्रणीतं

चन्द्रप्रभचरितम्

सुधा-टीकोपेतम्



तृतीयः सर्गः

श्रीषेण राजा का वर्णन

तत्राभिनन्दितनिजाखिलबन्धुपद्मो न्यायांशुजालनिहतापनयान्धकारः[2] ।
संकोचितारिवनितास्यनिशाकरश्रीः श्रीषेण इत्यजनि भानुनिभो[3] नरेन्द्रः ॥१॥

उस श्रीपुर नामके पुर में श्रीषेण नाम का एक राजा [रहता] था। वह सूर्य के समान था। सूर्य अपने बन्धु कमलों को विकसित करता है, राजाने अपने बन्धु रूपी कमलों को आनन्दित किया था। सूर्य न्याय के समान अपने किरण जाल से अन्याय के समान अन्धकार को दूर करता है, राजा ने न्याय रूपी किरण जाल से अन्याय रूपी अन्धकार को दूर कर दिया था। सूर्य चन्द्रमा की श्रीको फीका करता है, राजा ने शत्रु स्त्रियों के मुख चन्द्र की शोभा को सङ्कुचित कर दिया था ॥ १ ॥

राजा के प्रताप का वर्णन

यस्य[4] प्रतापदहनेन विलङ्घ्यमानमूर्तिर्निरन्तरमरातिगणः समस्तः ।
द्रष्टुं दिशं न विदिशं चकितः प्रभूष्णु[5] र्घूकोपमः[6] समभवद्गिरिगह्वरस्थः ॥२॥

छन्द—७४ वें श्लोक तक वसन्त तिलका, ७५ वें में प्रहर्षिणी और ७६ वें में हरिणी छन्द है।

छन्दों के लक्षण—**उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः ॥ १ ॥**
म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम् ॥ २ ॥
रसयुगहयैर्न्सौ म्रौ स्लौ गो यदा हरिणी तदा ॥ ३ ॥

अलङ्कार—श्लेषोपमा।

जिस [श्रीषेण] के प्रताप रूपी अग्नि से चारों ओर से आक्रान्त हुआ शत्रुवर्ग

---

१ श्रीपुराख्ये पुरे। २ न्यायरूपकिरणसमूहविनाशितदुर्नीतितमाः। ३ सूर्यतुल्यः। ४ श्रीषेणस्य राज्ञः। ५ सामर्थ्यवान्। ६ उलूकेन तुल्यः।

[अपनी इष्ट] दिशा या विदिशा को देखने के लिए असमर्थ हो गया। फलतः वह चकित होकर पर्वतों की गुफाओं में उलूक की तरह छिप गया। उपमा ॥ २ ॥

यश का वर्णन

यस्य स्फुरद्भिरनुरागकरैर्[1]यशोभिरुद्भासितासु सकलासु दिगङ्गनासु ।
तन्मात्रकार्यकरणप्रवणाय[2] लोकः[3] शीतांशवे न नितरां स्पृहयांबभूव ॥३॥

जिस [श्रीषेण] के [चारों ओर] स्फुरायमान, अनुराग उत्पन्न करने वाले यश के द्वारा दिशा रूपी अङ्गनाओं के प्रकाशित हो जाने पर केवल प्रकाश फैलाने में निपुण चन्द्रमा की ओर लोगों की स्पृहा-चाह जरा भी न रही।

भावार्थ—चन्द्रमा केवल प्रकाश फैलाने में निपुण है किन्तु राजा श्रीषेण का यश प्रकाश और अनुराग इन दो को फैलाने में समर्थ था। इसीलिए लोग उसके यश को चाहने लगे और चन्द्रमा की उपेक्षा करने लगे। व्यतिरेक ॥ ३ ॥

प्रजापालन का वर्णन

संपूर्णशारदनिशाकरकान्तकीर्तिवल्लीवितानपरिवेष्टितविश्वपान्तः ।
यः पोषणाद्विनयनाद्व्यसनापनोदात्स्वामी गुरुः सुहृद[4]भूदखिलप्रजानाम् ॥

राजा श्रीषेण ने शरत्कालीन पूर्णचन्द्र के समान सुन्दर अपनी कीर्तिरूपी लता के फैलाव-विस्तार से संसार को चारों ओर से व्याप्त कर दिया था। समस्त प्रजा का भरण-पोषण, शिक्षण और सङ्कट-निवारण करने से वह उसका [समस्त प्रजा का] स्वामी, गुरु और मित्र था। अनुप्रास, उपमा, रूपक और यथासंख्यालङ्कार ॥ ४ ॥

विद्वत्ता का वर्णन

यत्र प्रशान्तसकलव्यसने विनीते स्वाभाविकं मतिमहातिशयं[5] प्रपन्ने[6] ।
चक्रुर्निवासमखिला नरनाथविद्याः[7] पर्युत्सुका इव परस्परदर्शनस्य ॥ ५ ॥

द्यूत-जुआ आदि सात व्यसनों से दूर, नम्र और अत्यन्त बुद्धिमान् उस [श्रीषेण] राजा में समस्त राजविद्याओं [जिन का सीखना-राजा को अत्यन्त आवश्यक है] ने निवास कर लिया, मानों वे [विद्याएँ] एक दूसरे से मिलने के लिए उत्सुक थीं। उत्प्रेक्षा ॥

व्यक्तित्व का वर्णन

तुङ्गत्वमद्रिपतिना[8] हरि[9]णेश्वरत्वं शीतांशुना सुभगता[10] वशिता[11] मुनीन्द्रैः ।

१ अनुरञ्जनकारिभिः। २ अनुरञ्जनरहित (प्रकाशमात्र) कार्यनिष्पादकाय। ३ जनः। ४ पोषणात्स्वामी, विनयना (विनयकरणा) द् गुरुः, व्यसनापनोदा (दुःखनिवारणा) त्सुहृदिति यथासङ्ख्येनान्वयः। ५ बुद्धिमहत्त्वम्। ६ प्राप्ते। ७ राजनीतयः। ८ सुमेरुणा। ९ शक्रेण। १० सौन्दर्यम्। ११ जितेन्द्रियत्वम्।

शौर्यं मृगाधिपतिना गुरुणा[1] मनीषा गाम्भीर्यमम्बुनिधिना तुलितं यदीयम् ६

जिस [श्रीषेण] की ऊँचाई सुमेरु पर्वत के समान, ऐश्वर्य इन्द्रके समान, सुन्दरता चन्द्रमाके समान, जितेन्द्रियता मुनियों के समान, पराक्रम सिंहके समान, बुद्धि बृहस्पति के समान और गम्भीरता समुद्र के समान थी। दीपकालङ्कार ॥ ६ ॥

तेज का वर्णन

नागाः[2] पदातिवृषभास्तुरगा[3] रथाश्च[4] शोभानिमित्तमभवन्खलु यस्य सर्वे।
आक्रम्य मण्डलपतीनखिलान्स[5] यस्मात्सर्वां बुभोज वसुधां निजतेजसैव ७

हाथी, घोड़े, रथ और श्रेष्ठ पदाति—प्यादे ये सब उस राजा के यहाँ केवल शोभा के निमित्त थे; क्यों कि वह [श्रीषेण] केवल अपने तेज से ही सभी मण्डलेश्वरों को जीत कर सारी पृथिवी का पालन कर रहा था ॥ ७ ॥

निरहंकारता का वर्णन

यत्र क्वचिद्[6] गुणगणो गतवान् सहैव वृद्धिं मया नृपतिरेष पुनर्न जाने।
मां द्वेष्टि शंसति शमप्रभृतीनितीव यो जातनिर्भररुषा[8] मुमुचे मदेन[7] ॥ ८ ॥

जहाँ कहीं भी गुणों का समूह मेरे [अहङ्कार के] साथ में ही वृद्धिङ्गत हुआ है, किन्तु न जाने यह राजा [कैसा विलक्षण है कि] मुझ से द्वेष करता है और शम आदि गुणों की प्रशंसा करता है, इसी कारण से अत्यन्त नाराज होकर ही मानो मद-अहङ्कार उसे छोड़ कर चला गया था। उत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥

राजा की विशिष्टता का वर्णन

वक्षः श्रियो भुजयुगं वरवीरलक्ष्म्याः कान्तेः शरीरमखिलं हृदयं क्षमायाः[9]।
यस्यास्पदं मुखमजायत वाग्विभूतेर्न्वाश्रयाय सकलस्य सतां प्रयासः॥९॥

जिस [श्रीषेण] राजा का वक्षःस्थल लक्ष्मी का, भुजयुगल वीरता का, शरीर कान्ति का, हृदय क्षमा का और मुख वाग्विभूति का आश्रय स्थान हो गया था। यह सच बात है कि सज्जनों का आश्रय पाने के लिए सभी प्रयास करते हैं। अर्थान्तरन्यास ॥ ९ ॥

भेजे नितान्तमजलो[10]ऽपि नदीनभावं[11] यश्चाभवद्वसुमतीतिलको[12]ऽप्यशोकः[13]।
दोषाकरश्च[14] न बभूव कलाधरो[15]ऽपि सर्वं हि विस्मयकरं महतां स्वरूपम्॥

---

१ बृहस्पतिना। २ गजाः। ३ पदातिश्रेष्ठाः। ४ 'गज-पदाति-हय-रथ' समवेता चतुरङ्गिणी सेनेत्यर्थः। ५ माण्डलिकान्नृपान्। ६ यस्मिन् कस्मिन्नपि जने। ७ मदेन। ८ सञ्जाताधिककोपेन। ९ क्षान्तेः। १० जलहीनः, डलयोरभेदाज्जडहीनश्च। ११ नदी+ ईनभावं=समुद्रत्वम्, न दीनताञ्च=अदैन्यञ्च। १२ पृथिव्यां 'तिलकवृक्षः, भूतिलकश्च। १३ 'अशोकं वृक्षः, शोकहीनश्च। १४ दोषाणां खनिः निशाकरश्च। १५ षोडशांशधर्ता चन्द्रः, चतुष्षष्टिकलाभिज्ञश्च।

जो राजा श्रीषेण सर्वथा जल रहित था तो भी समुद्र था [विद्वान् था और कभी दीनता के भाव को धारण नहीं करता था] भूमि के ऊपर तिलक वृक्ष था तो भी अशोक वृक्ष था [भूमि का तिलक-सर्वश्रेष्ठ था और शोक रहित था] कलाधर-चन्द्रमा था तो भी रात्रि उत्पन्न नहीं करता था [समस्त कलाओं को धारण करता था और निर्दोष था] बड़ों का स्वरूप निश्चय से आश्चर्यजनक होता है। विरोधाभास और अर्थान्तरन्यास ॥१०॥

त्रिवर्गपालन का वर्णन

धर्मोऽर्थसंचयनिमित्तमुदारमर्थः कामस्य हेतुरितरः[1] सुखयोनिरेते[2]।
यत्र त्रयो[3]ऽप्यविरतं न परस्परस्य जैनेश्वरा इव नया विजहुर्व्यपेक्षाम्[4] ॥११॥

राजा श्रीषेण के पास अपरिमित धन संचित रहता था। इस [धन-संचय] का कारण धर्म था, अर्थ-संचय काम-काम पुरुषार्थ का कारण था और काम सुख का कारण था। सारांश यह हुआ कि वह धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों का परिपालन करता था। फलतः वे तीनों पुरुषार्थ कभी भी आपस में उपेक्षा नहीं करते थे—तीनों का परस्पर में सम्बन्ध इस तरह बना रहता था जिस तरह जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा प्रतिपादित नैगम, संग्रह और व्यवहार आदि नयों में रहता है। 'निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तुतोऽर्थकृत्'—एक दूसरे की उपेक्षा करने वाले नय झूठे और अपेक्षा करने वाले सच्चे तथा अर्थ सिद्धिके हेतु होते हैं। उपमा॥ ११ ॥

गुणों का वर्णन

वाञ्छद्भिराश्रयविशेषमिवात्मयोग्यमौदार्यधैर्यविनयादिगुणैरशेषैः।
अभ्यर्थितः सततमादरव[5]द्भिरेष वेधाः ससर्ज नृपमालयभूत[6]मेनम् ॥ १२ ॥

अपने योग्य विशिष्ट आश्रय चाहने वाले औदार्य, धैर्य और विनय आदि समस्त गुणों ने बड़े आदर से ब्रह्मदेव से प्रार्थना की। वह प्रार्थना भी एक दिन नहीं, लगातार कई दिन तक की गयी। फलतः उस [ब्रह्मदेव] ने इसे निवासगृह के रूप में बना दिया।

भावार्थ—राजा श्रीषेण बहुत गुणी था। समस्त गुण उसमें नागरिक की भांति निवास करते थे ॥ १२ ॥

भानुर्भवेद्यदि मनागिह सौम्यरूपस्तेजस्वितामुपगतो मृगलाञ्छनो वा।
धामाधिको विदधदेष जनानुरागं तेनो[7]पमानपदवीं[8] प्रभुरुद्वहेत ॥ १३ ॥

यदि सूर्य जरा सा सौम्यरूप होता अथवा चन्द्रमा थोड़ा और तेजस्वी होता तो प्रजा वत्सल और तेजस्वी यह (श्रीषेण) राजा उस [सूर्य या चन्द्र] की समता धारण करते। अतिशयोक्ति ॥ १३ ॥

---

१ कामः। २ सुखोत्पादकाः। ३ धर्मार्थकामाः। ४ जैनन्यायवद्धर्मार्थकामानामस्मिन् श्रीषेणनृपतौ परस्परं, सापेक्षत्वं बभूव। ५ साग्रहैः। ६ गृह (आश्रय). भूतम्-औदार्यधैर्यविनयाद्यशेषगुणानामिति शेषः। ७ भानुना, चन्द्रेण च। ८ समानताम्।

विवाह का वर्णन

श्रीकान्तया[1] सरसिजाकरसन्निवासिश्रीकान्तया[2] सकललोकमनोभिरामः ।
देव्या स्वकीयवपुरव्यतिरिक्तया[3]ऽऽप[4] योगं शशीव कलयाऽमलया स भूपः १४

प्रजाप्रिय तथा सुन्दर उस [श्रीषेण] राजा का विवाह श्रीकान्ता देवी से—जो कि लक्ष्मी के समान सुन्दर थी—हुआ जैसे कला के साथ चन्द्रमा का अभेद्य सम्बन्ध हो जाता है—कला चन्द्रमा में बिलकुल मिल जाती है, उसका शरीर पृथक् प्रतीत नहीं होता। इसी तरह श्रीषेण और श्रीकान्ता का सम्बन्ध हो गया। उन दोनों के शरीर स्नेह और सुन्दरता की दृष्टि से पृथक् नहीं थे। उपमा ॥ १४ ॥

रानी का वर्णन

लावण्यसंपदमलाम्भसि संनिमज्ज्य देहं स्वमुज्ज्वलमिवातितरां विधातुम् ।
श्लाघ्यः शरद्विशदचन्द्रगभस्ति[5]गौरो यस्यास्तनौ समुदितः सकलो गुणौघः ॥

रानी के शरीर में गुणों का समूह—जो कि प्रशंसनीय और शरत्कालीन चन्द्रमा के समान सफेद था—एकत्रित हो गया। मानो वह [गुणों का समूह] उस [रानी] के लावण्य—जल में स्नान करके अपने देह को और अधिक उज्ज्वल करना चाहता है। उत्प्रेक्षा ॥ १५ ॥

शीलक्षमाविनयरूपगुणैर्महार्घामुच्चित्य यामखिलविष्टपसुन्दरीषु ।
भर्तुर्मनो रमयितुं स्वसहायभूतां लक्ष्मीरिवादरपरा स्वयमेव वव्रे ॥ १६ ॥

शील, क्षमा और विनय आदि श्रेष्ठ गुणों की दृष्टि से संसार में सर्वोत्कृष्ट इस रानी को खोज कर लक्ष्मी ने—जो कि राजा के पास पहले से थी—पति के मनोरञ्जन के लिए इसे सम्मानपूर्वक अपनी सहयोगिनी बना लिया। यह व्यवस्था लक्ष्मी ने स्वयं की रानी को इसके लिए तनिक भी प्रयास नहीं करना पड़ा ॥ १६ ॥

चन्द्रोज्ज्वलेन यशसा कथितं सुराणामीशस्य संसदि[6] परीतवतां[7] त्रिलोकीम् ।
रूपं ग्रहीतुमनसः स्पृहयन्ति यस्या देव्यो[8] दिवोऽवतरणाय तपांसि कर्तुम् १७

चन्द्रमा के समान उज्ज्वल रानी के यश ने—जो कि तीनों लोकों में व्याप्त हो चुका था—इन्द्र की सभा में इस [रानी] के सौन्दर्य की चर्चा की। फलतः उसका रूप पाने के निमित्त से तपश्चर्या करने के लिए देवाङ्गनाएँ स्वर्ग से यहाँ आने की चाह करने लगीं ॥ १७ ॥

दोषानुबन्धरहिता तमसा[10] विमुक्ता रम्या निजोदयविकासितबन्धुपद्मा ।

---

१ 'श्रीकान्ता'ख्यया । २ कमलाकरस्थशोभामनोहरया, इदं देव्या विशेषणम् । ३ स्वदेहाभिन्नया । ४ लेभे । ५ किरण—। ६ देवेन्द्रस्य सभायाम् । ७ परिवेष्टितवता । ८ देवाङ्गनाः । ९ रात्रिसंसर्गवर्जिता च । १० अन्धकारेण, अज्ञानेन च ।

प्राभातिकी[1] द्युतिरिवाम्बुजबान्धवस्य[2] या कान्तिमोषधिपतेः[3] परिभूय तस्थौ॥

निर्दोष, [रात्रि के सम्बन्ध से रहित] अज्ञान [अन्धकार] से रहित, सुन्दर और अपने उदय से अपने बन्धुरूपी कमलों को विकसित करने वाली, [अपने उदय से कमल रूपी बन्धुओं को विकसित करने वाली] जो रानी चन्द्रमा की कान्ति को जीतकर कमल-बन्धु-सूर्य की सवेरे की अरुणाभा के समान थी। पूर्णोपमा ॥ १८ ॥

विषय भोग का वर्णन

धर्मार्थयोरविद्धत्स विशामधीशो[4] बाधां[5] विधूपमयशोधवलीकृताशः।
सार्धं तया प्रणयकोपकृतान्तराणि[6] देव्या[7] सुखान्यनुभवन्दिवसाञ्जिनाय ॥१९॥

धर्म और अर्थ में बाधा न पहुँचा कर वह [श्रीषेण] राजा उस [श्रीकान्ता] देवी के साथ विषय सुखका—जिसमें प्रणय कोप के कारण कुछ व्यवधान पड़ जाता था—अनुभव करता हुआ [मौज से] दिन बिताने लगा। अर्थात् वह धर्म-अर्थ और काम-पुरुषार्थ का पालन करता था। केवल विषयासक्त होकर धर्म और अर्थ की उपेक्षा नहीं करता था। इसी लिए उसने चन्द्रमा के समान निर्मल अपने यश से समस्त दिशाओं को सफेद कर दिया था ॥ १९ ॥

रानी के शोक का वर्णन

कृत्वाऽपरेद्युर[8] खिलावसरं[9] स यावदन्तःपुरं व्रजति किन्नरगीतकीर्तिः।
तावत्कराग्रविनिविष्टकपोलमूलां[11] देवीमुदश्रुनयनां[12] सहसा ददर्श ॥ २० ॥

एक दिन की बात है—आम सभा का कार्य समाप्त कर वह राजा जिसका यशोगान किन्नर कर रहे थे ज्यों ही अन्तःपुरमें प्रवेश करता है त्यों ही उसकी दृष्टि रोती हुई रानी पर, जिसकी आँखें अश्रुपूर्ण हैं और जिसका कपोल हथेली पर रखा हुआ है—अचानक पड़ी ॥ २० ॥

तां तादृशीं समवलोक्य समानदुःखो दुःखंविभक्तुमिव तन्मनसि प्रवृत्तम्।
स व्याकुलेन मनसा त्वरमाणवृत्तिः[13] पप्रच्छ हेतुमतिशोकसमुद्भवस्य ॥२१॥

उस रोती हुई रानी को देखकर वह राजा अत्यन्त दुःखी हुआ इतना दुःखी हुआ जितनी वह रानी थी। इस लिए व्याकुल होकर तुरन्त ही उससे शोक होनेका कारण पूछा। मानो वह उसके मन में स्थित दुःख को बाँटना चाहता था। दुःख का कारण यदि दूसरे को सुना दिया जाता है तो सुनाने वाले का दुःख कम हो जाता है और

---

१ प्रातःकालिकी। २ सूर्यस्य। ३ चन्द्रस्य। ४ राजा। ५ द्वितीयाबहुवचनान्त-मिदम्। ६ स्नेहमयक्रोधलब्धावकाशानि। ७ 'श्रीकान्ता'ख्यया। ८ अन्यस्मिन्दिने, ९ 'सद्यः परुत्…' इति निपातनात्सिद्धम्। १० सामयिकं सर्वकृत्यम्। ११ करतलस्थ-कपोलाम्। १२ रुदतीम्। शोकहेतुप्रश्ने शीघ्रतां कुर्वन्।

चित्त हल्का हो जाता है, यह निश्चित बात है। यही सोचकर राजा ने अपनी रानी से दुःख का कारण पूछा। एक बात यह भी है कि दुःख सुनने वाला व्यक्ति दुःख दूर करने का उपाय करता है, यह बात भी राजा के मन में थी। उत्प्रेक्षा ॥ २१ ॥

रानी से शोक के कारण पूछने का वर्णन

दुर्वारवीर्यरिपुनिर्दहनप्रवीणे पृथ्वीतलप्रसृतदुर्विषहप्रतापे।
पद्मायताक्षि ! मयि जीवति[1] जीवितेशे संभाव्यते परभवो[2] न पराभवस्ते॥

हे कमललोचने ! प्रिये ! यह तो बताओ कि आज किसी ने तुम्हारा अपमान तो नहीं कर दिया है ? मुझे तो यह सम्भव नहीं प्रतीत होता कि मेरे जीते जी कोई तुम्हें अपमानित कर दे; क्योंकि मैं साधारण व्यक्ति नहीं हूं। मैं बड़े बड़े पराक्रमी धृष्ट वीरों के छक्के छुड़ाने में निपुण हूं और सारे भूमण्डल पर मेरा प्रताप—जिससे शत्रुओं का दिल दहल जाय—फैला हुआ है ॥ २२ ॥

संतापमूलसुहृदं विरहं विसोढुमुन्मेषमात्रमपि तावक[3]मप्रभूष्णोः[4]।
मत्तोऽपि मत्तगजगामिनि ! निश्चयेन जानीहि संभवति न प्रणयस्य[5] भङ्गः॥

हे मत्तगजगामिनि ! मुझ से तुम्हारा प्रणय-भङ्ग हुआ हो, यह बात भी संभव नहीं; क्यों कि मैं तुम्हारा विरह क्षण भर भी नहीं सह सकता। तुम्हारा विरह होते ही मुझे सन्ताप होने लगता है ॥ २३ ॥

त्वत्पादपद्मशरणे त्वदधीनवृत्तौ[6] त्वत्प्रेमनिघ्नमनसि[7] त्वदभिन्नदेहे।
शाठ्यं मनागपि मृगाङ्कमुखि ! त्वदीये संभावयामि सरले न सखीजनेऽपि॥

हे चन्द्रवदने ! तुम्हारी सहेलियों में से किसी ने तुम्हारे साथ धूर्तता की हो, यह भी मुझे संभव प्रतीत नहीं होता; क्यों कि सब से पहले बात तो यह है कि वे [सहेलियां] सरल हैं—कपट करना नहीं जानतीं और दूसरी बात यह है कि उन्हें केवल तुम्हारे चरणों का ही सहारा है, तुम से ही उनकी जीविका चल रही है और तुम्हारे प्रेम की उन्हें निरन्तर भूख बनी रहती है। तीसरी बात यह भी है कि वे कभी तुम से बिलग नहीं होती। संभव है कि वे परोक्ष में तुम्हारी निन्दा करतीं पर वे तुम्हारे साथ में चौबीसों घण्टे उपस्थित रहती हैं इसलिए यह भी संभव नहीं। काव्यलिङ्ग ॥ २४ ॥

छन्दानुवर्तिषु[8] पदातिषु बान्धवेषु दास्यं गतेषु च निशान्तवधूजनेषु[9]।
भ्रूभङ्गमात्रमपि सोढुमशक्नुवत्सु संजायते न तव तन्वि ! निदेशभङ्गः[10]॥

---

१ सप्तम्यन्तमिदम्। २ अन्यकृतः। ३ तवेमं तावकम् = (त्वदीयम्), अत्रापि 'तवकममका……' इति तवकादेशः। ४ अशक्तात्। ५ प्रेम्णः। ६ त्वदधीनव्यवहारस्य। ७ त्वत्प्रेमाधीनचित्ते। ८ अनुकूलव्यवहारेषु। ९ अन्तःपुरस्त्रीजनेषु। १० आज्ञाभङ्गः।

हे तन्वि ! [कृशाङ्गि !] और किसी ने तुम्हारा अपमान किया हो, यह भी संभव नहीं ; क्यों कि नौकर तुम्हारे इशारे पर नाचते हैं, हमारे भाई-बन्धु तुम्हारी इच्छा के अनुकूल चलते हैं और अन्तःपुर का वधूवर्ग तुम्हारी दासता को धारण कर रहा है। इन में से कोई भी तुम्हारी कुटिल भ्रुकुटि को सहन नहीं कर सकता ॥ २५ ॥

एतेष्वसत्स्वपरि[1]तोषनिबन्धनेषु किं कारणं कथय देवि ! शुचस्तवास्याः ।
पृष्टेति सा क्षितिभुजा त्रपया[2] न किंचिदूचे परं मुखमलोकत बालसख्याः ॥

देवि ! ऊपर कहे गये कारणों में से एक भी संभव नहीं जो तुम्हारे असन्तोष का निमित्त हुआ हो। तब फिर तुम्हारे इस शोक का क्या कारण है ? कहो। इस तरह राजा के पूछने पर रानी ने लज्जावश स्वयं उत्तर नहीं दिया, किन्तु बचपन से साथ रहने वाली सहेली के मुख की ओर ताकने लगी ॥ २६ ॥

सखी रानी के शोक का कारण सुना रही है

सा ह्रीवशादथ गिरा किमपि स्खलन्त्यास्तस्याः सखीति निजगाद परेङ्गितज्ञा[3]।
सत्यं न संभवति देव ! पराभवादिरस्या भवत्प्रणयभारमहार्घिकायाः ॥२७॥

वह सखी इशारे में ही दूसरे के भाव को भाँप लेती थी। इस लिए वह तुरन्त समझ गयी कि रानी ने मुझे उत्तर देने की आज्ञा दी है इसके ताकने का यही अभिप्राय है। यह मन ही मन सोच कर राजा से बोली। बोलते समय लज्जा के कारण उसके शब्दों में स्खलन हो रहा था। क्या बोली ! सुनिये—देव ! यह बात सच है कि ऊपर कहे गये कारणों में से एक भी कारण संभव नहीं ; क्योंकि आप के स्नेह के कारण सभी लोग इसका सन्मान करते हैं। उसी स्त्री को लोग अपमानित करते हैं जो अपने पति के द्वारा उपेक्षित कर दी गयी हो। काव्यलिङ्ग ॥ २७ ॥

किं त्वत्र कारणमभूदपरं विषादे दैवं विहाय न यदन्यजनस्य साध्यम् ।
देवस्य[4] तत्सकलमेव निवेदयामि कर्तव्यवस्तुनि पुनर्नियतिः[5] प्रमाणम् ॥

ऊपर कहे गये कारणों में से कोई कारण नहीं, किन्तु इसके विषाद में कोई दूसरा ही कारण है। पर उसका प्रतिकार दैव को छोड़ कर कोई दूसरा नहीं कर सकता। मैं आप से सारी बातें कह देती हूं पर मानव के कर्तव्य में भाग्य का आसरा लेना ही पड़ता है। विधि विधान कभी टलता नहीं ॥ २८ ॥

एषा पुरं त्वदनुभावविवृद्धशोभं द्रष्टुं मयाऽद्य सह मन्दिरमध्यरुक्षत् ।
चेक्रीड[6]तो निजकराहतकन्दुकेन[7] तत्रैक्षताढ्यपृथुकान्[8] पृथुकान्तियुक्तान्[9] २९

---

१ 'सत्स्वपरि......' इति पाठान्तरे सन्ति च तानि स्वपरितोषस्य निबन्धनानीति तेष्वित्यर्थः। २ लज्जया। ३ परचेष्टाज्ञानवती। ४ भवतः। ५ भाग्यम्। ६ भृशं क्रीडमानान्। ७ स्वहस्तप्रहतगेन्दुकेन। ८ धनिकबालकान्। ९ बहुशोभान्वितान्।

आप के प्रभाव से इस पुर की निराली ही शोभा है। इसे देखने के लिए आज ये [आपकी पत्नी] मेरे साथ महल की छत पर गयी। वहाँ पहले तो इसने गेंद से जोभर खेलते हुए धनाढ्यों के छोटे-छोटे बच्चों को देखा। जब वे बच्चे अपने नन्हें नन्हें हाथों से गेंद फेंकते थे उस समय का दृश्य तो इतना सुन्दर था कि वह कहा नहीं जा सकता। स्वभावोक्तिः ॥ २९ ॥

तानिन्दुसुन्दरमुखानवलोकयन्ती चिन्तामगादिति विषण्ण[1]मुखारविन्दा ।
धन्याः स्त्रियो जगति ताः स्पृहयामि ताभ्यो यासाममीभिरफला[2] तनयैर्न सृष्टिः ॥

चन्द्रमाके समान सुन्दर मुखाकृति वाले उन बच्चों को देखते ही रानी के मुख कमल पर विषाद की रेखा खिच गयी और उसके मन में यह चिन्ता उत्पन्न हो गयी कि इन बच्चों से जिनका जन्म सफल हुआ है वे स्त्रियाँ धन्य हैं। मुझे संसार में किसी से डाह नहीं किन्तु इन स्त्रियों से मुझे डाह उत्पन्न हो गयी है ॥ ३० ॥

या मद्विधाः पुनरसंचितपूर्वपुण्याः पुष्पं[3] सदा फलविवर्जित[4]मुद्वहन्ति ।
ताः सर्वलोकपरिनिन्दितजन्मलाभा बन्ध्या[5] लताइव भृशं न विभान्ति लोके ॥

जो स्त्रियाँ मेरे समान हैं, जिन्होंने पूर्व जन्म में पुण्य का उपार्जन नहीं किया है और जो निष्फल ही पुष्प धारण करती हैं—जिनके मासिक धर्म तो होता है किन्तु गर्भ धारण नहीं करती उनके जीवन की सभी लोग अवहेलना करने लगते हैं। संसार में ऐसी स्त्रियाँ उन लताओं के समान अशोभन हो जाती हैं जो बन्ध्या हैं—जिन में फूल तो लगते हैं पर फल नहीं लगते। उपमा ॥ ३१ ॥

या स्त्यानधर्मिणि[6] पुरन्ध्रिजने[7] प्रसिद्धं स्त्रीशब्द[8]मुद्वहति कारणनिर्व्यपेक्षम्[9] ।
सा हास्यभावमुपयाति जनेषु यद्वदन्धः सुलोचन इति व्यपदेशकामः[10] ॥३२॥

जो गर्भ धारण कर सकती है वही स्त्री कहलाती है। किन्तु जो निरर्थक ही स्त्री है अर्थात् गर्भ धारण नहीं करती पर कहलाती स्त्री है, वह लोगों में हंसी का भाजन बनती है। जैसे 'सुलोचन' संज्ञा का इच्छुक अन्धा। 'आँखों का अन्धा नाम नयनसुख' यह प्रसिद्ध कहावत है ॥ ३२ ॥

चन्द्रोज्झितां रविरलंकुरुते घनानां वीथीं[11] सरोजनिकरः सरसीमहंसाम् ।
पुत्रं विहाय निजसंततिबीजमन्यो न त्वस्ति मण्डनविधिः कुलपुत्रिकाणाम्[12] ॥

---

१ खिन्न—। २ निष्फला। ३ ऋतुधर्मम्। ४ सन्तानहीनम्। ५ फलपुष्पहीनाः, सन्तानहीनाश्च। ६ गर्भधारणधर्मयुक्ते। ७ स्त्रीजने। ८ 'स्त्यायत्यस्यां गर्भ' इत्येवं 'स्त्री' शब्दस्य विग्रहे सिद्धं 'स्त्री' शब्दम्। ९ निष्कारणम्। १० कपटाभिलाषुकः। ११ मेघमार्गम् = आकाशम्। १२ कुलस्त्रीणाम्।

घनवीथी—आकाश और सरसी-सरोवर इन दोनों के दो-दो भूषण हैं जो बारी-बारी से शोभा बढ़ाते रहते हैं किन्तु उच्चकुल की स्त्री के लिए केवल एक ही भूषण है—

घनवीथी जब [दिन में] चन्द्र रहित हो जाती है तो उसे सूर्य अलङ्कृत करता है और सरसी जब हंसों से मुक्त हो जाती है तो उसे कमलों का समूह विभूषित करता है। किन्तु उच्च कुल की स्त्रियों के पुत्र के बिना, जो सन्तति का बीज है, दूसरा मण्डन नहीं है ॥ ३३ ॥

तेनोज्झितां निजकुलैकविभूषणेन सौभाग्यसौख्यविभवस्थिरकारणेन ।
मां शक्नुवन्ति परितर्पयितुं विपुण्यां[1] न ज्ञातयो न सुहृदो न पतिप्रसादाः ॥

सौभाग्य, सुख और ऐश्वर्य के स्थिर कारण स्वरूप कुल-भूषण पुत्र के बिना मुझ अभागिनीको कुटुम्बीजन, मित्र लोग अथवा पति के द्वारा दिये गये उपहार तृप्त नहीं कर सकते ॥ ३४ ॥

कृत्वा विषादमिति दुःस्थितचित्तवृत्तिर्दुःखं[2] निवेद्य मयि तल्पतले[3] न्यपप्तत्[4] ।
संबोधिता[5]पि न मया बहुभिः प्रकारैः शोकं विमुञ्चति मनागपि[6] देव ! देवी ३५

हे देव ! इस तरह विषाद करने वाली रानी का चित्त जब बिलकुल ही बेचैन और अस्थिर हो गया तब वह अपना दुःख मुझ से कह कर चारपाई के ऊपर लेट गयी। मैंने उसे बहुत प्रकार से समझाया पर इसने शोक जरा भी नहीं छोड़ा ॥ ३५ ॥

सख्या मुखादिति निशम्य विषादहेतुं निःश्वस्य किंचिदथ भूमिपतिर्बभाषे ।
शोकः शरीरहृदयेन्द्रियशोषहेतुर्युक्तो न देवि ! तव वस्तुनि दैवसाध्ये ॥३६॥

सखी के मुख से इस प्रकार विषाद का कारण जानकर राजा ने लम्बी सांस लेकर परिमित शब्दों में रानी से कहा—देवि ! शरीर, हृदय और इन्द्रियों को सुखा देने वाले शोक का करना योग्य नहीं, खास कर ऐसे विषय में तो कभी भी योग्य नहीं कहा जा सकता जो केवल दैव के ऊपर अवलम्बित हो ॥ ३६ ॥

दुःखेन ते प्रथममस्म्यहमेव दुःखी मद्दुःखतो भवति सर्वजनस्य दुःखम् ।
इत्थं समस्तजनतापरितापहेतोर्मा गाः कृपावति ! शुचो वशमुद्धतायाः[7] ॥३७॥

हे कृपावती ! देखो तो, तुम्हारे दुःख से सब से पहले मुझे दुःख हो रहा है। मेरे दुःख से घर के सभी लोगों को दुःख हो रहा है। इस तरह तुम्हारा दुःख सबको दुःखी कर रहा है। इसलिए यदि तुम्हारे मन में दया है तो ऐसे शोक के वश न होओ-शोक न करो ॥

---

१ पुण्यहीनाम्। २ दुरवस्थमनःसव्यापारान्। ३ शय्योपरि। ४ निपतितवती। ५ समाश्वासिता। ६ स्वल्पमपि। ७ वृद्धिं गतायाः।

जन्मान्तरे शुभमथाप्यशुभं यदेव यैरर्जितं स्वपरिणामवशेन कर्म।
तद्योग्यमेव फलमिष्टमनीप्सितं[1] वा तैः प्राप्यते किमिति शोचसि हेतुहीनम्[2]॥

पूर्व जन्म में जिन्होंने अपने परिणामों के अनुसार शुभ अथवा अशुभ जैसा भी कर्म कमाया है वे उसी [शुभाशुभ कर्म] के अनुसार इष्ट अथवा अनिष्ट फल पाते रहते हैं। जब यह बात है तो बिना कारण क्यों शोक कर रही हो ? ॥ ३८ ॥

अत्यन्तदुर्घटमिदं नहि वस्तुनोऽस्य निष्पत्तिरित्यलसगामिनि![3] माऽवमंस्थाः[4]।
संपत्स्यते[5] तव मनोरथ एष शीघ्रमेकान्ततो[6] यदि भवेन्न विधिर्विपक्षः[7] ॥३९॥

हे अलसगामिनि ! इस वस्तु की अर्थात् पुत्र की उत्पत्ति कठिन या असंभव है, ऐसा नहीं समझना। यदि भाग्य सर्वथा विपरीत न हुआ तो तुम्हारा यह मनोरथ शीघ्र ही पूरा होगा ॥ ३९ ॥

सन्त्येव केवलदृशो[8]ऽवधिलोचनाश्च[9] तीर्थे जिनस्य मुनयो विविधर्द्धियुक्ताः[10]।
जाग्रत्स्वपच्च चलदप्रचलच्च विश्वं येषामिदं करतलस्थितवच्चकास्ति ॥ ४० ॥

इस समय केवल ज्ञानी अवधि ज्ञानी, और नाना ऋद्धियों को धारण करनेवाले बड़े बड़े मुनि जैन तीर्थ में मौजूद हैं जिन को यह सारा संसार करतल में स्थित की तरह प्रतीत हो रहा है। यद्यपि समस्त विश्व समान स्थिति में नहीं है, क्योंकि कोई सो रहा है, कोई जाग रहा है, कोई चल रहा है और कोई स्थिर है। तो भी जो जैसा है उसे वे [मुनि] उसी रूप में जानते हैं ॥ ४० ॥

तेभ्योऽधिगम्य तव संततिलोपहेतुमभ्युद्यतः प्रतिविधातु[11]महं यतिष्ये।
क[12]म्रैर्वचोभिरिति लोकपतिः प्रियायाः शोकापनोद[13]मकरोत्करदीकृताशः[14]॥

उन मुनियों से तुम्हारे सन्तान न होने का कारण जानकर उसका प्रतीकार करने के लिए भरसक प्रयास करूँगा। इस तरह मधुर बचनों से उस राजा ने, जिसने कि चारों दिशाओं से-सभी राजों से टैक्स लेना प्रारम्भ कर दिया है-पत्नी का शोक दूर कर दिया॥

वन विहार का वर्णन

युक्तोऽन्यदा क्षितिपतिः स निजैः सुहृद्भिरालिङ्गितं समधिगम्य वसन्तलक्ष्म्या।
क्रीडावनं समवलोकितुमभ्ययासीदुद्दामकौतुकरसप्रसरप्रणुन्नः[15] ॥ ४२ ॥

एक दिन वह राजा उत्कट कौतूहल वश अपने मित्रों के साथ वसन्त की लक्ष्मी से विभूषित क्रीडावन की शोभा देखने गया ॥ ४२ ॥

---

१ अनिष्टम्। २ निष्कारणम्। ३ मन्दगामिनि। ४ न मन्यस्व। ५ सम्पन्नो भविष्यति। ६ सर्वथा। ७ प्रतिकूलः। ८ केवलज्ञानिनः। ९ अवधिज्ञानिनः, अन्तर्यामिन इति यावत्। १० अनेकसमृद्धिमन्तः। ११ प्रतिकर्तुम्। १२ मनोहरैः। १३ शोकह्रासम्। १४ करदाश्रीकृतदिग्भागः। १५ समृद्धकुतूहलरसविस्तारप्रेरितः।

नृत्यच्छिखण्डिनि मृदुक्कणदन्यपुष्टे सुस्वादुसुन्दरफले सुमनःसुगन्धौ।
तस्मिन्वने शिशिरकन्दमसत्प्रचारे सर्वेन्द्रियोत्सवकरे विजहार भूपः ॥४३॥

उस उद्यान में कहीं मयूर नाच रहे थे, कहीं कोकिल की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ रही थी, कहीं स्वादिष्ट सुन्दर फल लगे हुए थे, कहीं फूलों की भीनी-भीनी महक आ रही थी और कहीं शीतल समीर मन्दगति से बह रहा था। इस लिए पांचों ही इन्द्रियों को आनन्द देने वाले उस उपवन में वह राजा घूमने लगा। पहले विशेषण से नेत्रों को, दूसरे से कर्ण इन्द्रिय को, तीसरे से रसना इन्द्रिय को, चौथे से नासिका इन्द्रिय को और पाँचवें विशेषण से स्पर्शन इन्द्रिय को आनन्द होना बताया गया है ॥ ४३ ॥

मुनिराज के दर्शन का वर्णन

अत्रान्तरे पृथुतपःश्रियमुन्नतश्रीरुन्मीलितावधिदृशं सुविशुद्धदृष्टिः।
तारापथादवतरन्तमनन्तसंज्ञमैक्षिष्ट चारणमुनिं सहसा नरेन्द्रः ॥ ४४ ॥

इसके बाद सम्पत्तिशाली, निर्मल सम्यग्दृष्टि उस राजा ने अचानक आकाश से उतरते हुए अनन्त नाम के चारण ऋद्धि धारी मुनि को देखा। वे मुनि बड़े तपस्वी और ज्ञानी थे। उनके तपस्या के चिह्न उनकी तपो-लक्ष्मी के परिचायक थे तथा अवधिज्ञान ज्ञान-लक्ष्मी का ॥ ४४ ॥

रोमाञ्चचर्चिततनू रभसेन गत्वा भूपस्तमालतरुमूलगतस्य तस्य।
मूर्ध्ना ननाम गुरुभक्तिभरानतेन संसारसिन्धुतरणौ चरणौ महर्षेः ॥४५॥

मुनिराज आकाश से उतरते ही तमाल वृक्ष के नीचे चले गये। उनके दर्शन मात्र से राजा पुलकित गात हो गया, अतः उसने भक्ति भार से नम्र हुए मस्तक से उस महर्षि के चरणों में जो संसार सागर से तारने वाले हैं, प्रणाम किया। रूपक ॥ ४५ ॥

सोऽप्यात्मनः परिसमाप्य समाधियोगमाशीर्वचांसि निपपाठ विशुद्धपाठः।
संस्नापयन्नरपतिं कुमुदोज्ज्वलेन धर्माभिषेकपयसेव निजस्मितेन ॥ ४६ ॥

जिस समय राजा ने प्रणाम किया उस समय वे समाधिस्थ थे। समाधि के अन्त में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में शुद्ध पाठ किया तत्पश्चात् राजा को आशीर्वाद दिया। आशीर्वाद देते समय राजा के ऊपर पड़ी मुस्कराहट से-जो कुमुद के समान सफेद थी-ऐसी प्रतीत हो मानो मुनिराज धर्माभिषेक का जल डाल कर स्नान करा रहे हों। उत्प्रेक्षा ॥ ४६ ॥

मुनिराज की स्तुति

कृत्वा करावथ स संकुचदब्जकान्ती सप्रश्रयामिति जगाद गिरं क्षितीशः।

---

१ कोमलध्वनिपरभृतः(पिकः)। २ बहुलतपस्याश्रीयुतम्। ३ विकासितावधिदर्शनम्। ४ आकाशात्। ५ दृष्टवान्। ६ रोमहर्षशोभितदेहः। ७ 'अनन्ता'ख्यश्चारणमुनिः। ८ मुकुलीभवत्पद्मशोभौ करावित्यस्य विशेषणमिदम्। ९ नम्रतासहिताम्।

दन्तावलीविशदरश्मिवितानकेन लिम्पन्मुनीन्द्रचरणाविव चन्दनेन ॥४७॥

इसके बाद राजा ने अपने हाथों को संकुचित कमल के समान बनाकर अर्थात् जोड़ कर विनय सहित ऐसे वचन कहे। बोलते समय राजा की स्वच्छ दन्तपंक्ति से निकली हुई धवल किरणावली मुनिराज के चरणों में पड़ रही थी, इस लिए ऐसा भान होता था जैसे राजा उनके चरणों में चन्दन का लेप कर रहा हो। उत्प्रेक्षा ॥ ४७ ॥

गत्वा सुदूरमपि यस्य विलोकनीयौ पादौ पवित्ररजसौ[1] रजसः[2] क्षयाय।
तस्यागमे तव मुनीन्द्र ! न हेतुरन्यो मुक्त्वा ममान्यभवसञ्चितपुण्यपाकम्[3] ॥

हे मुनिराज ! पाप क्षय के लिए दूर जाकर भी दर्शन करने योग्य जिसके चरण हैं और जिन चरणों के पड़ने से रास्ते की धूल भी पवित्र हो जाती है या यों कहिये कि रास्ते की धूलि भी जिन पर पड़ने से पवित्र हो जाती है, उसके [आपके] समागम में मेरे पूर्व जन्म के संचित पुण्य को छोड़ कर और क्या कारण हो सकता है ? अर्थात् पूर्व जन्म के पुण्य से ही मैंने आपका दर्शन पाया ॥ ४८ ॥

श्रेयस्तनोति परिवर्धयते विवेकमुन्मूलयत्यघ[4]मुदीरयते विभूतिम्[5] ।
त्वद्दर्शनं सुचरिताखिलभद्रहेतुर्नाल्पीयसो भवति गम्य[6]मिदं शुभस्य ॥४९॥

हे सुचरित ! आपका दर्शन कल्याण को विस्तृत कर देता है, विवेक को बढ़ा देता है, पाप को नष्ट कर देता है, विभूति को प्रकट कर देता है और अखिल मङ्गल का हेतु-जनक है। अतः आप का यह दर्शन थोड़े पुण्य से सुलभ नहीं हो सकता ॥ ४९ ॥

राजा का प्रश्न

यद्भावि भूतमथवा मुनिनाथ तत्ते ! बाह्यं न वस्तु कथयेदमतः प्रसीद।
संसारवृत्तमखिलं परिजानतोऽपि नाद्यापि याति विरतिं[7] किमु मानसं मे ॥

हे मुनिनाथ ! जो वस्तु आगे होगी अथवा जो हो चुकी है वह आप से बाहर अर्थात् अज्ञात नहीं रह सकती, अतः कृपा कर प्रसन्न होकर यह बताइये कि सारे संसार के वृत्तान्त को जान लेने पर भी मेरा मन अभी तक क्यों विरक्त नहीं हो रहा है ! ॥ ५० ॥

मुनिराज का उत्तर

श्रुत्वेति तद्वचनमेवमुवाच चिन्तां चेतोगतां स नृपतेरवबुध्यमानः[8] ।
यावत्तव स्फुरति चेतसि सूनुवाञ्छा[9] तावन्न यासि विरतिं नृपपुङ्गव[10] ! त्वम् ॥

इस तरह राजा के वचन सुन कर वे मुनिराज उसकी मनोगत चिन्ता को जानते हुए यों बोले—हे श्रेष्ठ राजन् ! जब तक तुम्हारे मन में पुत्र की अभिलाषा रहेगी तब तक तुम्हें वैराग्य नहीं हो सकता ॥ ५१ ॥

---

१ पवित्रधूलिकणौ। २ रजोगुणस्य मलिनस्य, पापस्येति वा। ३ पुण्यपरिणामम्। ४ पापम्। ५ऐश्वर्यम्। ६ लभ्यम्। ७ विरक्तिम्। ८ जानन्। ९ पुत्रेच्छा। १० राजश्रेष्ठ।

सौ च प्रणश्यति न तावदसौ न यावत्पुत्रो[१] भवत्यरिकुलोन्मथनैकवीरः।
पुत्रोदये[२]ऽपि भवतोऽस्ति विबन्धहेतुरन्यो भवान्तरगतं[३] शृणु तं ब्रवीमि॥

राजन्! तुम्हारी यह चिन्ता तब तक दूर नहीं हो सकती जब तक कि तुम्हारे शत्रु कुल के उन्मूलन करने में अद्वितीय वीर पुत्र उत्पन्न नहीं हो जाता। पुत्रोत्पत्ति का प्रतिबन्धक कारण, जिसका पूर्वजन्म से सम्बन्ध है, बतलाता हूं। सुनिये॥ ५२॥

एषा तवाग्रमहिषी[५] पुटभेदने[६]ऽभूदत्रैव पूर्वमभिनन्दितसर्वबन्धोः।
देवाङ्गदस्य वणिजस्तनया सुनन्दा श्रीकुक्षिजा[७] गुणगणाभरणाभिरामा ५३

राजन्! तुम्हारी यह प्रधान रानी पूर्व जन्म में इसी [श्रीपुर] नगर में देवाङ्गद नाम के वणिक् की, जिसने कि अपने सभी बन्धुओं को आनन्दित किया है, लड़की हुई। उसका नाम सुनन्दा और उसकी माँ का, जिसकी कुक्षि से यह उत्पन्न हुई थी, नाम श्री था। गुणों के आभूषण से वह अलङ्कृत थी अतः और भी अधिक सुन्दर प्रतीत होती थी॥५३॥

साऽन्यां विलोक्य नवयौवन एव नारीं गर्भेण पीडिततनुं गलिताङ्गशोभाम्।
जन्मान्तरेऽपि वयसि प्रथमेऽहमीदृङ्मा भूवमित्यकृत[९] मन्दमतिर्निदानम्॥

नव यौवन के प्रारम्भ होते ही गर्भ रह जाने से जिसके शरीर में पीड़ा हो रही है और जिसके शरीर की सारी शोभा नष्ट हो गयी है ऐसी एक स्त्री को देख कर इस मन्दबुद्धि ने यह निदान बाँध लिया कि जवानी के समय जन्मान्तर में भी मेरी ऐसी स्थिति न हो॥ ५४॥

साऽऽगारधर्मनिरता[१०] प्रतिपद्य[११] कालं सौधर्मकल्प[१२]मुपगम्य बभूव देवी।
च्युत्वा ततः पुनरभूदिह पुण्यशेषाद् दुर्योधनस्य दुहिता भवतश्च पत्नी॥५५॥

निदान बाँध लेने के बाद उसने जीवन भर गृहस्थ धर्म का पालन किया और अन्त में जीवन लीला समाप्त होने पर सौधर्म स्वर्ग में देवी का जन्म प्राप्त किया। वहाँ से च्युत हो कर शेष पुण्य के परिणाम से दुर्योधन की लड़की हुई और बाद में आप की पत्नी॥५५॥

तस्माद्भवान्तरभवादशुभान्निदानादस्या वयो नवमगादन[१२]पत्यमेव।
कैश्चिद्दिनैः प्रशममीयुषि[१३] तस्य दोषे निःसंशयं तव भविष्यति पुत्रजन्म॥

जन्मान्तर में बाँधे गये उस अशुभ निदान के निमित्त से इसकी जवानी बिना सन्तान हुए ही बीती। अब थोड़े ही दिनों में उसका दोष शान्त होते ही आपको निश्चित ही पुत्र उत्पन्न होगा॥ ५६॥

---

१ पुत्रेच्छा २ पुत्रजन्मनि। ३ अवरोधकारणम्। ४ जन्मान्तरीयम्। ५ देवी। ६ नगरे। ७ 'श्री'नाम्न्या जनन्या गर्भजाता। ८ 'न माङ्योगे' इत्यडागमाभावः। ९ कृतवती। १० गृहधर्मलग्ना। ११ लब्ध्वा। १२ जैनसंप्रदायसम्मतं प्रथमं स्वर्गम्। १३ निःसन्तानम्। १४ प्राप्तवति।

तस्मिन्मृगाङ्क इव सर्वमनोभिरामे सूनौ निधाय पृथुधाम्नि धुरं धरित्र्याः ।
संपत्स्यसे त्वमधिगम्य जिनेन्द्रदीक्षां[1] सिद्धालयातिथिरशेषितकर्मबन्धः[3] ॥

चन्द्रमा के समान सर्वप्रिय और तेजस्वी उस पुत्र के ऊपर पृथिवी का भार रख कर अपना उत्तराधिकारी बना कर तुम जिनेन्द्र दीक्षा धारण करोगे-मुनि बनोगे और अन्त में अष्ट कर्मों के बन्धनों को तोड़कर सिद्धालय-मोक्ष के अतिथि बनोगे-मुक्ति प्राप्त करोगे ॥५७॥

मुनिराज और राजा के जाने का वर्णन

संक्षेपतो गिरमिमामभिधाय सम्यगानन्द्य भूमिपतिमिष्टनिबन्धनेन[4] ।
धामेप्सितं मुनिरगान्नृपतिश्च राजधानीमणुव्रतविभूषणभूषिताङ्गः[5] ॥ ५८ ॥

संक्षेप से यह कह कर और इष्ट लाभ-पुत्र जन्म की चर्चा से राजा को अत्यधिक आनन्दित कर मुनिराज अपने इच्छित स्थान की ओर चले गये। अणुव्रत रूपी भूषण से भूषित वह राजा भी अपनी राजधानी की ओर चला गया ॥ ५८ ॥

धर्मपालन का वर्णन

पुंसां पुरोपचितपुण्यनिबद्धमिष्टमित्याकलय्य निबबन्ध मतिं स धर्मे ।
तत्रोन्मुखं भवति भाग्यवतां हि चेतो यत्संपदां नियतमङ्गमनागतानाम् ५९

मानव को इष्ट की प्राप्ति पूर्व जन्म के पुण्य से होती है, यह जान कर राजाने अपनी बुद्धि धर्मपरिपालन में लगा दी। यह सच बात है कि भाग्यशाली मनुष्यों का मन उस ओर लगता है जो निश्चित ही आगे होने वाली सम्पदाओं का निश्चित कारण हो। अर्थान्तरन्यास ॥ ५९ ॥

दानेन संयमिजनस्य[6] जिनार्चनेन[7] तस्य प्रभोरविरतं नयतो[8] दिनानि ।
प्रक्षोभिताखिलसुरासुरनागलोकं नान्दीश्वरं[9] परमपर्व समाससाद[10] ॥ ६० ॥

वह राजा अविराम गति से संयमी लोगों को दान देकर और भगवान् जिनेन्द्र देव की पूजा कर अपना समय बिताने लगा। राजा के दिन जब साधु सन्तों के दान में और भगवान् जिनेन्द्र की पूजन में बीतने लगे तब श्रेष्ठ नान्दीश्वर-नन्दीश्वर दीप सम्बन्धी अष्टाह्निका पर्व आया। उसके आते ही सुर, असुर, और नाग लोक में—तीनों लोको में धूम मच गयी ॥ ६० ॥

तस्मिन्विधाय महतीमुपवासपूर्वां पूजां जगद्विजयिनो जिनपुङ्गवस्य ।
स्नानं समीहितनिमित्तम[11] तस्तदीयबिम्बस्य[12] स प्रविदधे सहितोऽग्रदेव्या[13] ॥

१ जैनीं दीक्षाम्। २ सिद्धालयगामी। ३ अपूरित (नाशित) कर्मबन्धनः। ४ अभिलषितनिमित्तेन। ५ अणुव्रतालङ्कारालङ्कृतदेहः। ६ साधुजनस्य। ७ जिनेन्द्रपूजनेन। ८ नयमानस्य। ९ एतन्नामकम्। १० आगतम्। ११ पुत्रप्राप्तिहेतवे। १२ जिनेन्द्रप्रतिमायाः। १३ महिष्या सहितः।

उस पर्व में राजा और रानी ने जगद्विजयी भगवान् जिनेन्द्र की बड़ी पूजा की और पूजन के दिन उपवास किया। इसके बाद अपने इष्ट की पूर्ति के निमित्त से जिनबिम्बका अभिषेक किया ॥ ६१ ॥

गर्भधारण का वर्णन

प्रह्लादनं विदधती शशिनः कलेव संपादयन्त्यभिमतं कुलदेवतेव ।
गर्भं कियद्भिरथ सा दिवसैर्बभार मुक्ताफलं पर[1]ममम्बुधिशुक्तिकेव ॥ ६२ ॥

पर्व की समाप्ति होने पर चन्द्रमा की कला की तरह [राजा के] आनन्द को उत्पन्न करती हुई तथा कुलदेवी की तरह [राजा के] मनोरथ को पूरा करती हुई उस रानी ने कुछ दिन बाद गर्भ धारण किया, जैसे समुद्र की सीप मुक्ताफल-मोती को धारण करती है। उपमा ॥ ६२ ॥

गर्भ के चिह्नों का वर्णन

किंचिद्वपुः शिथिलतामगमत्तदानीमापाण्डुरं वदननीररुहं[2] बभूव ।
गर्भस्थबालगुणभूरिभरादिवागान्मन्दापि मन्दतरतां[3] गतिरायताक्ष्याः[4] ६३

उस समय उस रानी का-जिसकी आँखें बहुत बड़ी थी-शरीर कुछ शिथिल पड़ गया और मुख कमल चारों ओर से पीला हो गया। गर्भ में स्थित बच्चे के गुणों के बहुत अधिक भार के कारण से ही मानो उसकी मन्द गति और भी मन्द हो गयी। उत्प्रेक्षा ॥ ५० ॥

नीलाननं[5] प्रसृतपाण्डिमं[6] धारयन्ती वक्षोरुहद्वयं[7] मधःकृतचन्द्रकान्ति ।
गन्धान्धषट्चरणचुम्बितपद्मयुग्ममम्भोजिनीमनुचकार[8] चकारचक्षुः[9] ॥६४॥

रानी का स्तन युगल चन्द्रमा से भी अधिक सुन्दर हो गया था; क्योंकि चन्द्रमा के समान उसका मध्य भाग काला हो गया था और चारों ओर का भाग सफेद। ऐसे स्तन युगल को धारण करने वाली रानी, जिनके नेत्र चकोर के समान थे, उस कमलिनी का अनुसरण कर रही थी जिसमें केवल दो कमल-जिनके ऊपर भ्रमर बैठे हुए हैं-लगे हों। उपमा ॥ ६४ ॥

स[10] पत्कुचद्वयविपाण्डुरतागुणेन हारो हतद्युति[11]रिवास्य[12] मुखे चकार ।
संघर्षणेन[13] मलयोजनिकां[14] कुतोऽपि निर्मत्सरो हि विरलो गुणिनां गुणेषु ॥

दोनों स्तनों की सफेदी इतनी बढ़ गयी कि उसके कारण हार की कान्ति कुछ भी प्रतीत नहीं होती थी। उन स्तनों के मुख-अगले भाग-बिलकुल काले हो गये इसलिए

१ श्रेष्ठतमम्। २ मुखकमलम्। ३ अतिमन्दताम्। ४ विशालनेत्रायाः। ५ कृष्णाग्रभागम्। ६ विशिष्टपाण्डुतायुक्तम्। ७ पयोधरयुगलम्। ८ अनुकृतवती। ९ चकोरनेत्रा। १० वर्द्धमान-। ११ तिरस्कृतकान्तिः। १२ स्तनद्वयस्य। १३ घृष्टया, स्पर्द्धया च। १४ कृष्णतायोगम्।

ऐसा प्रतीत होता था कि हारने डाह के कारण कहीं से कज्जल लाकर पोत दिया है। यह निश्चित बात है कि गुणियों (हार) में भी डाह रहित व्यक्ति विरले होते हैं। उत्प्रेक्षा और अर्थान्तरन्यास ॥ ६५ ॥

जृम्भाऽभवत्सततसंनिहिता सखीव नान्तं[1] मुमोच वरमित्रमिवालसत्वम् ।
लज्जाभरः सममगादुदरेण वृद्धिमभ्युद्यमः सह ननाश वलित्रयेण ॥ ६६ ॥

जमुहाई सखी के समान निरन्तर साथ में रहने लगी, आलस श्रेष्ठ मित्र की तरह कभी साथ नहीं छोड़ता था, लज्जा उदर के साथ बढ़ गयी और फुर्ती त्रिवली के साथ नष्ट हो गयी। सहोक्ति ॥ ६६ ॥

नीलोत्पलानि निजया विजितानि तावत्कान्त्या मया सहजया[2] सह पुण्डरीकैः[3] ।
स्पर्धे[4]ऽधुनाऽन्वहमितीव विचिन्त्य तस्या नेत्रद्वयं धवलतामगमत्कृशाङ्ग्याः ॥

उस कृशाङ्गी रानी के दोनों नेत्र यह सोच कर ही मानो सफेद हो गये कि हमने अपनी सहज कान्ति से ही नील कमलों को जीत लिया है अब तो केवल सफेद कमलों से डाह है। उत्प्रेक्षा ॥ ६७ ॥

गर्भस्थितस्य जननान्तरबीजबन्धं बालस्य तस्य वचनेन विना वदन्ति[5] ।
तस्याः शिरीषसुकुमारतनोर्बभूवुरेकान्ततो[6]ऽपि जिनपूजनदौहृदानि[7] ॥६८॥

शिरीष सुकुमाराङ्गी उस रानी को सदा जिन देव की पूजा का दोहद होने लगा। वह [दोहद] गर्भगत बच्चे के जन्मान्तर के संस्कार को बिना शब्दों के कह रहा था—सूचित कर रहा था।

गर्भ के समय गर्भिणी को जो विशेष इच्छा होती है उसे दोहद कहते हैं। यह निश्चित बात है कि गर्भ में जैसा बच्चा होगा वैसा ही 'दोहद' होगा। ॥ ६८ ॥

पुत्रोत्पत्ति का वर्णन

प्राप्ते प्रसूतिसमयेऽथ तिथौ शुभायामुच्चस्थितेषु[8] सकलेषु शुभग्रहेषु[9] ।
सा भावितीर्थक[10]रमुज्ज्वलदेहदीप्तिप्रध्वंसितान्धतमसं सुषुवे कुमारम् ॥६९॥

इसके बाद प्रसूति का समय आते ही रानी ने शुभ तिथि में, जब कि सभी शुभ ग्रह अच्छे स्थान में थे, ऐसे पुत्र को जन्म दिया जिसके उज्ज्वल देह की दीप्ति से प्रसूति गृह का अन्धकार नष्ट हो गया और जो आगे जाकर चन्द्रप्रभ तीर्थङ्कर होगा ॥ ६९ ॥

शुभ्रं नभोऽभवदभीपुम[11]तीव तस्मिन्[12]नभ्युद्गते[13] परमधामनिधानभूते ।
लक्ष्मीः सरःकमलिनी सहसाऽभ्यनन्ददाशाङ्गना[14] मलिनिमापगमा[15]द्विरेजुः ॥

---

१ समीपम्। २ स्वाभाविकया। ३ श्वेतपद्मैः। ४ स्पर्द्धां करोमि। ५ इदं क्लीबस्य प्रथमाबहुवचनान्तं पदम्। ६ सर्वथैव। ७ गर्भकालिकेच्छातिशयः। ८ उन्नतस्थानस्थेषु। ९ चन्द्रबुधगुरुशुक्रेषु। १० भविष्यदष्टमतीर्थङ्करम्। ११ सूर्ये। १२ बाले। १३ उदिते, उत्पन्ने च। १४ दिगङ्गनाः। १५ अन्धकारनाशात्। मालिन्याभावाच्च।

सूर्य के समान अति तेजस्वी उस राजकुमार के जन्म लेते ही आकाश स्वच्छ हो गया, सरोवरों में कमलिनी के विकास की निराली छवि छा गयी और धुंधलापन मिट जाने से दिशारूपी स्त्रियां सुशोभित हो उठीं। सूर्योदय के होने पर भी यही स्थिति उत्पन्न हो जाती है, इसी लिए राजकुमार को सूर्य के समान कहा। उपमा ॥ ७० ॥

उत्सव का वर्णन

निःशेषमम्बुधरधीरगभीरनादैस्तूर्यैर्बभूव मुखरं नरनाथवेश्म[1]।
पौरो जनस्त्वरितमेव निजेनिजेऽसौ गेहे महोत्सवमकारयत प्रहृष्टः॥७१॥

मेघों के समान गंभीर शब्द करने वाले बाजों की आवाज से समस्त राजमहल गूंज उठा। इस अवसर पर पुरवासियों को भी बड़ी प्रसन्नता हुई। इस लिए उन्होंने अपने-अपने घर तुरन्त ही उत्सव का आयोजन कराया ॥ ७१ ॥

स्वस्माद् बहिर्भवनतः प्रकटं निरित्य[3] नृत्यान्यतन्वत गणो गणिकाजनानाम्।
लब्धोऽधुना वसुमति प्रभुरद्वितीयो नन्द त्वमित्यजनि जन्मवतां[4] प्रघोषः[5] ७२

गणिकाओं के गण ने अपने-अपने घर से बाहर निकल कर सब के समक्ष नृत्य किया। उस समय लोग यह कहने लगे कि वसुमति! तूने ऐसा पति पाया जिसकी समता की क्षमता किसी में नहीं अब तुम खूब समृद्धिशालिनी बनो ॥ ७२ ॥

पारितोषिक देने का वर्णन

तुष्ट्या ददत्स्वसुतजन्म निवेदयद्भ्यो देयं न देयमिदमित्यथवा क्षितीशः।
नाजीगणत्प्रमदविह्वलचित्तवृत्तिर्विक्षिप्तवृत्ति हि मनो न विचारदक्षम्॥७३॥

पुत्र जन्म की सूचना देने वालों को राजा ने आनन्द विभोर होकर जो कुछ पास में था सब दे डाला, यह नहीं सोचा कि यह देने योग्य है या नहीं। यह निश्चित बात है कि जब मन किसी कारण से चञ्चल हो जाता है तब वह विचार करने में दक्ष नहीं रहता। अर्थान्तरन्यास ॥ ७३ ॥

नागरिकों की प्रसन्नता का वर्णन

गायत्प्रनृत्यदभितो रभसेन वल्गदुन्मत्ततामिव जगाम पुरं समस्तम्।
तत्राभवन्न खलु कोऽपि स यस्य नान्तर्जज्ञे विकासि हृदयं सहसा द्विषोऽपि॥

उस समय सारा नगर कहीं गाता हुआ, कहीं नाचता हुआ और कहीं इधर से उधर दौड़ता हुआ दृष्टिगोचर हो रहा था, ऐसा लगता था मानो वह पागल हो गया है। उस नगर में उस वक्त ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था जिसे भीतर से खुशी न हुई हो। और तो और शत्रुओं का हृदय भी सहसा प्रसन्न हो उठा। उत्प्रेक्षा ॥ ७४ ॥

---

१ राजभवनम्। २ पुरे भवः। ३ निःसृत्य। ४ देहिनाम्। ५ घोषणा। ६ पुत्रजन्मजन्यहर्षातिशयात् पुत्रजन्म कथयद्भ्यो जनेभ्यो देयस्य द्रव्यस्य पात्रापात्रविचारं विनैव राजा ददाविति भावः। ७ अस्तव्यस्तव्यापारम्।

सर्वज्ञं कनकमयैः समर्च्य पुष्पैः कल्याणेऽहनि सह तेन वंशवृद्धैः[1] ।
श्रीवर्मेत्यवनिभुजाऽथ तस्य नाम श्रीशब्दानुगतमकारि मङ्गलाय ॥ ७५ ॥

उस राजा ने अपने वंश के बड़े बूढ़ों के साथ किसी शुभ दिन में स्वर्ण पुष्पों से सर्वज्ञ भगवान् की पूजा कर उस राजकुमार का श्रीवर्मा नाम रखा । मङ्गल के विचार से नाम के प्रारम्भ में श्रीशब्द और लगाया गया था । मैथिल विद्वान् अब तक अपने नाम के प्रारम्भ में श्री शब्द का प्रयोग करते हैं ॥ ७५ ॥

विदधदखिलांस्तेजस्तीव्रान् परानननतान्नता-
नवनिममितामोजोभिः स्वैर्वशं विवशां नयन् ।
निधिशतमहालाभैर्भूभृच्छतप्रहितैर्धनै-
रुदयनिलये जाते तस्मिन्ननन्द स नन्दने[2] ॥ ७६ ॥

इति श्रीवीरनन्दिकृतावुदयाङ्के चन्द्रप्रभचरिते महाकाव्ये तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

उस होनहार राजकुमार के जन्म लेने पर उस राजा की चारों ओर से समृद्धि बढ़ने लगी—बड़े-बड़े तेजस्वी राजे; जो कभी नहीं झुके थे, अपने आप झुकने लगे । इस से राजा का तेज और भी अधिक बढ़ गया । फलतः वह भूमि भी अधिकार में आगयी जिसे शत्रु लोग छोड़ना नहीं चाहते थे तथा और सैकड़ों राजे भेंट में अपरिमित सम्पत्ति भेजने लगे ॥ ७६ ॥

इति तृतीयः सर्गः



---

१ कुलवृद्धजनैः । २ उदयनिलये तस्मिन्नन्दने जाते अखिलान् तेजस्तीव्रान् (अत एव) अनतान् (=अनम्रीभूतान्) परान् (=शत्रून्) नतान् विदधत् (=कुर्वन्) (तथा च) विवशाम् (=अवशीभूताम्) अमिताम् (=अपरिमिताम्) अवनिं (=पृथ्वीम्) स्वैः ओजोभिः (=बलैः) वशां नयन् स (=श्रीवर्माख्यो नृपः) निधिशतमहालाभैः भूभृच्छतप्रहितैः (=शतशो नृपप्रेषितैः) धनैः ननन्द' इत्यन्वयः । स्वैरोजोभिरिति पदे शत्रूणां नम्रीकरणेऽपि वा सम्बन्धनीये ।

इति साहित्याचार्य प० हरगोविन्दशास्त्रिकृत टिप्पणी समाप्ता ।

परिशिष्ट

(क)

पारिभाषिक शब्दों के अर्थ

अवधि [४०] भूत और भावी भव-जन्म को जानने वाला ज्ञान।

अणुव्रत [५८] शक्ति के अनुसार पाँच पापों का परित्याग करना। पाँच पाप-हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील-व्यभिचार और परिग्रह-अति संग्रह।

कर्म [२८] आत्मा की स्वतन्त्रता के प्रतिबन्धक पाप और पुण्य। जैन शास्त्रों में आठ प्रकार के कर्म बताये गये हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय।

केवल [४०] समस्त द्रव्यों की समस्त पर्यायों को एक साथ जानने वाला ज्ञान।

चारण [४४] गमन सम्बन्धी ऋद्धिधारी मुनि। गमनार्थक 'चर' धातु से चारण शब्द बनता है। ऋद्धि आत्मा की विशेष प्रकार की शक्ति का नाम है। चारण गमनसम्बन्धी ऋद्धि को कहते हैं। ऋद्धि के सम्बन्ध से इसके धारण करने वाले भी चारण कहलाने लगे।

चारण ऋद्धि तीन प्रकार की होती है—

१—जल के ऊपर जमीन की तरह चलाने वाली।

२—जमीन के ऊपर बिना पैर लगाये चलाने वाली।

३—आकाश में चलाने वाली।

जिनेन्द्र [५७] राग और द्वेष आदि कषायों को जीतने वाले 'जिन' कहलाते हैं। इनमें जो श्रेष्ठ हों उन्हें 'जिनेन्द्र' कहते हैं।

तीर्थ [४०] संसार-सागर से पार करने वाला धर्म।

तीर्थंकर [६९] धर्मतीर्थ के प्रवर्तक अवतार। एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थङ्कर तक चलने वाला धर्म तीर्थ कहलाता है। यह तीर्थ जिससे चले उसे तीर्थंकर कहते हैं। जैन ग्रन्थों में चौबीस तीर्थङ्करों का वर्णन किया गया है। उनके नाम—

(१) ऋषभनाथ (२) अजितनाथ (३) संभवनाथ (४) अभिनन्दननाथ (५) सुमतिनाथ (६) पद्मप्रभ (७) सुपार्श्वनाथ (८) चन्द्र-

प्रभ (९) पुष्पदन्त (१०) शीतलनाथ (११) श्रेयांसनाथ (१२) वासुपूज्य (१३) विमलनाथ (१४) अनन्तनाथ (१५) धर्मनाथ (१६) शान्तिनाथ (१७) कुन्थुनाथ (१८) अरनाथ (१९) मल्लिनाथ (२०) मुनिसुव्रतनाथ (२१) नमिनाथ (२२) नेमिनाथ (२३) पार्श्वनाथ (२४) वर्धमान ।

दृष्टि [४४] सच्ची श्रद्धा । सम्यग्दर्शन इसी का दूसरा नाम है ।

दौहृद [६८] गर्भावस्था में होने वाली स्त्री की विशेष प्रकार की इच्छा । गर्भ में जैसा बच्चा होता है वैसी ही उसकी माँ की इच्छा होती है-अच्छे बच्चे के कारण अच्छी और बुरे बच्चे के कारण बुरी ।

नय [११] वस्तु के एक देश को जानने वाला ज्ञान ।

विशेषार्थ—प्रमाण पूरी वस्तु को जानता है और नय उसके एक देश को । जैसे सोहन ने पहले बगीचे को देखा । देखते ही उसे यह ज्ञान हुआ कि यह इस शहर का सब से बड़ा बगीचा है । यह प्रमाण का विषय हुआ । बगीचे के अन्दर पहुंचते ही उसने कनेर का वृक्ष देखा और इसीके बारे में विशेष जानकारी प्राप्त करने लगा । यह नय का विषय हुआ ।

नय सात होते हैं—नैगम, सङ्ग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ।

नान्दीश्वरपर्व [६०] अष्टाह्निका पर्व । यह कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ मास के अन्तिम आठ दिन प्रतिवर्ष मनाया जाता है ।

नन्दीश्वर अष्टम द्वीपका नाम है । वहाँ ५२ जिन-प्रतिमा हैं । उनकी पूजा करने के लिए इन्द्र देवों को साथ में लिवाकर जाता है । मनुष्य वहाँ पहुँच नहीं सकते, अतः यहीं पर जिन मन्दिर में उनके निमित्त से पूजा करते हैं । नन्दीश्वर पर्व से सम्बन्ध रखने के कारण ही इसे नान्दीश्वर पर्व कहते हैं ।

निदान [५४] भविष्य के भोग की इच्छा ।

रानी श्रीकान्ता ने युवावस्था के प्रारम्भ में गर्भधारिणी स्त्री की विरूप अवस्था देखकर यह इच्छा की थी कि भवान्तर में भी मेरी ऐसी अवस्थ युवावस्था के प्रारम्भ में न हो । यह इच्छा दर असल भोग की ही इच्छ

है; क्यों कि गर्भ न रहने से भोग सुखपूर्वक भोगा जाता है। गर्भ तो भोग का प्रतिबन्धक है। यह सोचकर ग्रन्थ का वीरनन्दी ने उसे निदान कहा है।

बीजबन्ध [६८] संस्कारों का सम्बन्ध।

महतीपूजा [६१] बड़ी पूजा। पर्व के दिनों में नित्य की अपेक्षा बड़ी पूजाएँ की जाती हैं। पञ्चकल्याणक पाठ आदि भी इन्हीं दिनों विशेष रूप से किये जाते हैं। झाँसी जिले में इसे विधान कहते हैं।

मुकुट बद्ध राजा के द्वारा की गयी पूजा महामह कही जाती है। इसी का दूसरा नाम महती पूजा भी हो सकता है।

जैन ग्रन्थों में नित्यमह, आष्टाह्निकमह, चतुर्मुखमह, कल्पद्रुममह और इन्द्रध्वज आदि भेद किये गये हैं।

व्यसन [४] जो मनुष्य को कल्याण के मार्ग से दूर हटा दे। व्यसन सात होते हैं—जुआ खेलना, मांस खाना, मदिरापान करना, वेश्यागमन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और पर–स्त्री सेवन करना।

सर्वज्ञ [७५] जिसका ज्ञान त्रिकाल गोचर हो–जिसे केवल ज्ञान हो गया हो।

सागारधर्म—गृहस्थ धर्म

धर्म दो प्रकार का होता है।

१–सागार धर्म २–अनगार धर्म गृहस्थों के धर्म को सागार धर्म और मुनियों के धर्म को अनगार धर्म कहते हैं।

सिद्धालय—[५७] जिस में सिद्ध रहें—मोक्ष। मोक्ष में अष्ट कर्मों को नष्ट कर पहुंचे हुए सिद्ध अनन्त काल तक निवास करते हैं।

सौधर्मकल्प—[५५] पहला स्वर्ग।

जैन शास्त्रों में १६ स्वर्ग माने गये हैं—(१) सौधर्म (२) ऐशान (३) सानत्कुमार (४) माहेन्द्र (५) ब्रह्म (६) ब्रह्मोत्तर (७) लान्तव (८) कापिष्ठ (९) शुक्र (१०) महाशुक्र (११) शतार (१२) सहस्रार (१३) आनत (१४) प्राणत (१५) आरण (१६) अच्युत।

सौधर्म आदि १६ स्वर्गों में इन्द्र आदि की कल्पना होती है, इसी कारण १६ स्वर्गों को कल्प कहते हैं। १६ स्वर्गों के ऊपर इन्द्र आदि की कल्पना नहीं होती, अतः वहाँ कल्प शब्द का व्यवहार नहीं होता।

(ख)

सूक्तियाँ

नन्वाश्रयाय सकलस्य सतां प्रयासः ॥ ६ ॥
सर्वं हि विस्मयकरं महतां स्वरूपम् ॥ १० ॥
निर्मत्सरो हि विरलो गुणिनां गणेषु ॥ ६५ ॥
विक्षिप्तवृत्ति हि मनो न विचाररत्नम् ॥ ७२ ॥

(ग)

कोष

१८—ओषधिपतिः = चन्द्रमा

शशी विधुः सुधासूतिः कौमुदीकुमुदप्रियः ।
कलाभृच्चन्द्रमाश्चन्द्रः कान्तिमानोषधीश्वरः ॥

४१—कम्रं = सुन्दर

कान्तं च कमनं कम्रं कमनीयं मनोहरम् ॥

६६—जृम्भा = जमुहाई

जृम्भस्तु त्रिषु जृम्भणम् । —अमरः ।

१८—दोषा = रात्रि

दोषा निशि निशामुखे । —हेमचन्द्रः ।

५३—पुटभेदन = नगर

भूः पुरी नगरं चैव पत्तनं पुटभेदनम् । —धनञ्जयः ।

२६—पृथुक = बच्चा

पृथुकश्चिपिटेऽर्भके । —हेमचन्द्रः ।

६४—षट्चरण = भ्रमर

द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्गषट्पदभ्रमरालयः । —अमरः ।



नवीन संस्करण ! **मालतीमाधवं नाटकम्** प्रकाशित होगये !!

'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी टीका, समालोचना, पात्रालोचन, कथासार आदि विषयों से सुसज्जित

इस ग्रंथ के टीकाकार पं० शेषराज शास्त्री जी की रचना शैली से संस्कृत, हिन्दी तथा अंगरेजी के छात्र एवं विद्वान भी विशेष प्रभावित हो चुके हैं। प्रस्तुत ग्रंथ की टीका का निर्माण तो और भी अधिक आधुनिक सुलभ शिक्षापद्धति के अनुसार विविध विषयों से सुसज्जित होकर हुआ है। महाकवि भवभूति के सर्वश्रेष्ठ, संस्कृत, हिन्दी, अंगरेजी सभी परीक्षाओंमें समान रूप से समादृत इस 'मालती माधव नाटक' की यह सर्वांग पूर्ण टीका तथा राष्ट्रभाषा हिन्दी में ग्रन्थ की आधुनिक समालोचना, महाकवि की जीवनी, कथासार, नोट्स आदि देखकर तो आप और भी प्रसन्न हो उठेंगे। मूल्य ५)

मुद्राराक्षस-नाटकम्

'शशिकला' संस्कृत-हिन्दी टीका, सविशेष टिप्पणी, नोट्स, समालोचना आदिसे सुसज्जित

लेखकः—डा. सत्यव्रत सिंह, एम. ए., पी. एच. डी.,

प्रोफेसर संस्कृत विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय

यों तो मुद्राराक्षस की संस्कृत, हिन्दी अंग्रेजी में कई टीकायें रहीं, किन्तु, नाटक की नाट्यशास्त्र, राजनीति आदि सम्बन्धी ग्रन्थियां उनके द्वारा सुलझ न सकीं अतः इस टीका में जो संस्कृत-हिन्दी व्याख्यान तथा आधुनिक टिप्पणी है उसके द्वारा इस नाटक की विविध विशेषताओं की अभिव्यक्ति की गयी है। वस्तुतः यह टीका आधुनिक वैज्ञानिक पद्धति से लिखी हुई होने के कारण विशेषरूप से संस्कृत-हिन्दी-अंगरेजी के छात्रों और साहित्यप्रेमियों के लिये समान रूपसे उपयोगी है।

इसकी समालोचना में मुद्राराक्षस की नाटक-रचना सम्बन्धी समस्त विशेषताओं का मौलिक तथा गवेषणापूर्ण विचार राष्ट्रभाषा सरल हिन्दी में होने के कारण संस्कृत-हिन्दी-अंगरेजी के परीक्षार्थियों तथा अन्य साहित्यानुरागियों की एक बहुत बड़ी आवश्यकता की यह एक पूर्ति है। हिन्दी-भाषा में इस ढंग की यह सर्व प्रथम रचना है। मुद्राराक्षस का अध्ययन केवल इसके द्वारा साङ्गोपाङ्ग किया जा सकता है। मुद्रण सुन्दर कलात्मक शैली से हुआ है। सचित्र कलामय आवरण पृष्ठ से सुसज्जित साधारण संस्करण का मूल्य २॥) उत्तम संस्करण का ३।) है।

प्राप्तिस्थानम्—चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस-१